जैन संस्कृति और उसका अवदान

—परम विदुषी साध्वी श्री कुसुमवती जी म. की सुशिष्या
साध्वी गरिमा, एम. ए.

विश्व में अनेकानेक संस्कृतियाँ हैं। जब से मनुष्य ने सामुदायिक जीवन आरम्भ किया और परस्पर व्यवहार की आधार-भूमि बनने लगी, तभी से आचरण संबंधी कतिपय आदर्शों ने आकार ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था और देश-कालानुसार उसमें परिवर्तन-परिवर्धन भी होते रहे। इस प्रकार संस्कृति का अस्तित्व बना। परिस्थिति-भिन्नता के कारण विश्व के विभिन्न भू-भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृतियों का प्रचलन हो गया। इन अनेक संस्कृतियों में जैन संस्कृति को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका आधारभूत कारण यह है कि किसी भी संस्कृति के लिए जो अनिवार्य अपेक्षाएँ हैं, उनकी पूर्ति जैन संस्कृति द्वारा बखूबी हो जाती है। अर्थात् संस्कृति के वांछित स्वरूप से जैन संस्कृति सर्वथा संपन्न है। व्यापक दृष्टिकोण को अपनाते हुए यदि संस्कृति के समग्र स्वरूप को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत करना हो, तो यह कहना होगा कि—संस्कृति आदर्श जीवन जीने की एक कला है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और तदनुसार उसके जीवन का एक रूप व्यक्तिगत है और दूसरा रूप सामाजिक अथवा सामुदायिक है। व्यक्ति के जीवन के ये दो पक्ष हैं। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने ही जीवन को शान्तिमय और सुखपूर्ण बनाने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है, तो उसका जीवन-साफल्य आंशिक होगा। पूर्ण सफलता तभी स्वीकार की जा सकेगी जब मनुष्य जाति, समाज, देश, विश्व की शान्ति व सुख के लिये सचेष्ट हो। संस्कृति इस प्रकार के सम्पूर्णतः सफल जीवन के लिये प्रेरणा देती है, वह इस दिशा में मार्ग निर्मित करती है और उसके अनुसरण के लिये भी मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार को आदर्श रूप देने, उसे नियमित और नियन्त्रित करने की भूमिका का निर्वाह भी संस्कृति द्वारा होता है। उच्च मानवीय आदर्शों को रूपायित कर संस्कृति मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र के कल्याण में लगी रहती हैं। जीवन को आदर्श रूप में ढालने का साँचा संस्कृति है। मनुष्यत्व तो देवत्व एवं असुरत्व का समन्वय होता है। कभी उसका एक लक्षण जागृत रहता है और अन्य सुप्त रहता है, कभी यह क्रम विलोम हो जाता है। इस आधार पर मनुष्य का मूल्यांकन होता है कि वह भला है अथवा बुरा। देवत्व की कल्पना श्रेष्ठ मानवीय व्यवहारों, गुणों और लक्षणों के समुच्चय के रूप में की जा सकती है। इसके विपरीत मनुष्य की दुर्जनता, उसकी कुप्रवृत्तियाँ ही असुरत्व का स्वरूप हैं। सज्जनों में देवत्व का प्राचुर्य और असुरत्व नाम मात्र को ही होता है। संस्कृति व्यक्ति के इसी प्रकार के व्यक्तित्व को सँवारती है। देवत्व के भाग को अधिकाधिक विकसित करने और असुरत्व को घटाकर न्यूनतम बना देने की अति महत्वपूर्ण भूमिका संस्कृति द्वारा ही निभायी जाती है। संस्कृति इस प्रकार मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है—उसे मनुष्यता से सम्पन्न करती है। यह मनुष्य का संस्कार करना है, जो संस्कृति द्वारा पूर्ण होता है। मानवाकृति की देह मात्र मनुष्य नहीं है। इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये मानवोचित आदर्श, सद्गुण, व्यवहार और लक्षणों की अनिवार्य अपेक्षा रहती है, जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न और उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं, उसे 'अशरफुल मखलुकात' बनाते हैं।

मनुष्य की मेधा क्रमिक रूप से विकसित होती रही और परिस्थितियाँ भी युगानुयुग परिवर्तित होती रहीं। तदनुरूप ही संस्कृति के स्वरूप में भी विकास होता रहा। संस्कृति के इस सतत विकाशशील रूप के कारण उसे किसी काल विशेष की उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं होगा, तथापि जैन संस्कृति के विषय में यह कथन असंगत न होगा कि यह अतिप्राचीन और अति लोकप्रिय है। मानव मात्र में मानवता जगाने की अद्वितीय क्षमता के कारण उसकी महत्ता सर्वोपरि है और इसे संस्कृतियों के समूह में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन संस्कृति ने अपने स्वरूप को इतनी व्यापकता दी है, इतनी उदारता दी है कि अन्यान्य संस्कृतियों को इससे प्रेरणा लेने का समुचित अवसर मिला। वस्तुतः विश्व संस्कृति के पक्ष में जैन संस्कृति की मूल्यवान देन रही है।

भारतीय संस्कृति का विश्व संस्कृतियों में अब भी आदरणीय स्थान है। यह प्राचीनतम है और अजस्र रूप से प्रवाहित धारा है। इसका प्रवाह कभी खण्डित नहीं हुआ। कुछ विद्वानों ने 'भारत' शब्द का विश्लेषण इस प्रकार भी किया है कि 'भा' का अर्थ प्रकाश है और भारत का अर्थ प्रकाश में रत रहने वाले जनों के समुदाय से लिया गया है। प्रकाश में रत रहने के संस्कारों का उदय भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति रही है। इस संस्कार-सम्पन्नता के लिए उपनिषदानुसार ३ सूत्र हैं—दया, दान और दमन (मन व इन्द्रियों का निग्रह)। संक्षेप में यही भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप कहा जा सकता है। यही भारतीय संस्कृति की एकरूपात्मकता है, अन्यथा इस देश में इस मौलिक स्वरूप का वहन करती हुई कतिपय अन्य, परस्पर भिन्न (अन्य प्रसंगों में) संस्कृतियाँ एकाधिक रूप में रही हैं, यथा—वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ। ये पृथक-पृथक सांस्कृतिक धाराएँ रही हैं। इस प्रकार से यह भी कथनीय है कि वेद दान के, बौद्ध दया के और जिन दमन के प्रतीक हो गये हैं। मनोविकारों का दमन कर उन पर विजय स्थापित करने वाला जिन है और जिन की संस्कृति ही जैन संस्कृति है। इस सूत्र के सहारे जैन संस्कृति के तत्त्वों को समझना सुगम है।

भारतीय संस्कृति में प्रमुखतः दो धाराएँ रही हैं जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति के आधार वेद और श्रमण संस्कृति के आधार जिनोपदेश रहे हैं। श्रमण संस्कृति निवृत्तिमूलक है, जबकि ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्तिमूलक है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों में यह एक मौलिक अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ ब्राह्मण संस्कृति में भोग का स्वर है वहाँ श्रमण संस्कृति में योग और संयम का ही प्राचुर्य है। ब्राह्मण संस्कृति में विस्तार की प्रवृत्ति है और इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में संयम और अन्तर्दृष्टि की प्रबलता है। ब्राह्मण संस्कृति व्यक्ति को स्वर्गीय सुखों के प्रति लोलुप बनाती है, भोगोन्मुख बनाती है, जबकि श्रमण संस्कृति मोक्षोन्मुख और विरक्त बनाती है। यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और लक्ष्य की प्राप्ति में श्रमण संस्कृति ही सहायक होती है।

मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाना सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। श्रमण शब्द के मूल में 'श्रम' 'शम' और 'सम' के तात्पर्यों को स्वीकार किया जा सकता है। यह संस्कृति 'श्रम' प्रतीक द्वारा मनुष्य को उद्यमी बनाती है। इसका सन्देश है कि मनुष्य स्वयं ही आत्म-निर्माता है। उसका हिताहित किसी अन्य की अनुकम्पा पर नहीं, स्वयं उसी के प्रयत्नों पर आधारित है, वह आत्मनिर्माता है। आत्म-कल्याण को महत्ता देने वाली श्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति मनुष्यों को ही यह गौरव प्रदान करती है कि वह अपने कल्याण की क्षमता स्वयं ही रखता है। मनुष्य को यह संस्कृति आत्म-गौरव से दीप्त और स्वावलम्बी बनाती है। उसे पुरुषार्थी बनाती है, ईश्वराधीन शिथिल और श्लथ नहीं बनाती। यह मनुष्य को किसी के चरणों का दास और दीन हीन बनने की प्रेरणा नहीं देती। विशेषता यह भी है कि इस पुरुषार्थ का प्रयोग आत्म-विकास के लिए सुझाया गया है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए राग-द्वेषादि सर्व कषायों का शमन अमोघ उपाय के रूप में श्रमण संस्कृति ने ही सुझाया है। श्रम को सार्थक बनाने के लिए इस प्रकार 'शम' अभिप्रेत रहता है। सम का सन्देश भी समत्व के रूप में श्रमण संस्कृति द्वारा ही प्रदान किया गया है। यह तात्पर्य भी इस संस्कृति को अत्युच्चासन पर अवस्थित करता है। व्यक्ति अन्य सभी प्राणियों को आत्मवत् ही स्वीकार करे यह समत्व है। मनुष्य यह अनुभव करे कि जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य सभी हैं। जिन कारणों से मुझे सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है, वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ ही घटित होता है। इस आधार के सहारे मनुष्य के मन में यह संस्कृति दूसरों के प्रति ऐसे व्यवहार की प्रेरणा जगाती है, जैसा व्यवहार वह दूसरों द्वारा अपने प्रति चाहता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी को अपने समान समझने के कारण मनुष्य स्वयं को अन्यों से उच्च समझने के दर्प से भी बच जाता है और अन्यों से निम्न समझने के हीनत्व से भी बच जाता है। उसके लिए सभी समान हैं—न कोई उच्च है न नीच। वर्गविहीन समाजनिर्माण की दिशा में ऐसी संस्कृति की महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। इसी प्रकार समभाव व्यक्ति में अहिंसा का व्यापक भाव भी सक्रिय कर देता है। यह संस्कृति मनुष्य को सिखाती है कि उसे किसी के प्राणापहरण का कोई अधिकार नहीं है। किसी के मन को कष्ट पहुँचाना भी उसके लिए उपयुक्त नहीं। व्यक्ति इसी प्रकार तो सभी की सुख-शान्ति के लिए सचेष्ट रहता हुआ जी सकता है। श्रमण संस्कृति मनुष्य के जीवन को ऐसा सार्थक रूप देने का महान कार्य भी सम्पादित करती है।

अहिंसा जैन संस्कृति का प्राण है। मन, वचन और काया से किसी जीव का घात न करना अहिंसा के माध्यम से हमें जैन संस्कृति ने ही सिखाया है। यह तो यहाँ तक निर्देश करती है कि स्वयं किसी का प्राणघात करना मात्र ही नहीं, अपितु दूसरों को ऐसा करने की प्रेरणा देना, उसे सहायता देना भी हिंसा है। यह भी अनुपयुक्त है। यही क्यों, किसी हिंसा का समर्थन करना भी हिंसा ही है। यह संस्कृति हिंसा के रंचमात्र प्रभाव को भी निंद्य मानती है। मन में किसी का अहित सोचना, वचन से किसी के मन को ठेस पहुँचाने जैसे कर्म भी हिंसा की परिधि में ले आने वाली यह जैन संस्कृति वस्तुतः मनुष्य को देवत्व-सम्पन्न बनाने में सर्वथा सक्षम है। क्या यह संस्कृति मनुष्य को प्राणघात न करने आदि जैसे निषेधात्मक निर्देश ही देती है? नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो मनुष्य को संकटापन्न प्राणियों की रक्षा करने की प्रेरणा भी देती है। विधि-निषेधयुक्त अहिंसा जैन संस्कृति के लिए एक गौरवपूर्ण तत्व है।

अनेकान्त दृष्टि भी जैन संस्कृति की अत्यन्त उपयोगी देन है। समाज में अनेक विचारधाराओं का अस्तित्व अति स्वाभाविक है और विभिन्न विचारधाराओं के अनुयायी अपने ही पक्ष में श्रेष्ठता का अनुभव करें—यह भी वहुत स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में एक मत वाले अन्य मतों को हीन दृष्टि से देखने लगते हैं, उनकी वे निन्दा करते हैं और उनके दोषों को उजागर करने से उन्हें संतोष का अनुभव होता है। इसी प्रकार वे अपने मत के प्रति श्रेष्ठ जनधारणा का निर्माण करना चाहते हैं। यह सारी की सारी प्रवृत्ति दूषित और घातक हो जाती है। इस प्रवृत्ति से ऐक्य खण्डित हो जाता है और समाज अनेक वर्गों में विभक्त हो जाता है। इन विभिन्न वर्गों के बीच भीषण संघर्ष की स्थिति रहती है। परिणामतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज घोर अशान्ति का घर बनकर रह जाता है। अपने आग्रह का मंडन और अन्यों के आग्रह का खण्डन करने की प्रवृत्ति ही इस सामाजिक संकट का कारण होती है। ऐसी विकट समस्या का समाधान अनेकान्त दर्शन के माध्यम से जैन संस्कृति प्रस्तुत करती है। अनेकान्त हमें सिखाता है कि अपने आग्रह को सत्य मानने के साथ-साथ अन्य-जनों ने आग्रह में 'भी' सत्य की उपस्थिति स्वीकार करनी चाहिये। तभी हम पूर्ण सत्य के निकट रहेंगे। किसी एक दृष्टिकोण से हमारी धारणा यदि सत्य है तो किन्हीं अन्य दृष्टिकोणों से, अन्य अपेक्षाओं से अन्य जनों की धारणा भी सत्य ही होगी और इन सभी के समन्वय से ही पूर्ण सत्य का कोई स्वरूप प्रकट हो सकता है। अन्यथा एकान्त रूप से पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण तो सत्य के एक-एक अंश ही होंगे। यह समन्वयशीलता की प्रवृत्ति जैन संस्कृति की ऐसी देन है जिसमें पारस्परिक विरोध संघर्ष की स्थिति को समाप्त कर देने की अचूक शक्ति है। अनेकान्त दृष्टि समाज को शान्ति, एकता और सहिष्णुता की स्थापना करने में सर्वथा सफल रह सकती है। आज वैचारिक वैमनस्य के युग में इस सिद्धान्त की भूमिका अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध हो सकती है। वर्ग-वर्ग, प्रदेश-प्रदेश और देश देश के दृष्टिकोणों का समन्वय सारे देश में और विश्व भर में शान्ति की स्थापना कर सकता है। समस्याओं के समाधान में यह औषधि अचूक सिद्ध होगी।

जैन संस्कृति अनासक्ति का मूल्यवान सन्देश भी देती है। यह मनुष्य को सिखाती है कि जागतिक वैभव नश्वर, अवास्तविक और सुख की मात्र प्रतीति कराने वाला ही होता है। ये तथाकथित सुख अन्ततः दुःख के द्वार खोलकर स्वयं अदृश्य हो जाते हैं। अतः मनुष्य को सुख के इन छलावों से बचकर अनासक्त हो जाना चाहिये और वास्तविक सुख, अनन्त-सुख—मोक्ष को लक्ष्य मानना चाहिए। इसी अनन्त-सुख को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य को अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना चाहिए। इस सन्देश से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी लालसा पर अंकुश लगाता है, भौतिक सुखों के प्रति विकर्षित होकर मनुष्य आत्म-संतोषी हो जाता है। भौतिक समृद्धि की दौड़ में उसकी रुचि नहीं रह जाती और संतोष-सागर की शान्ति लहरियों में वह सुखपूर्वक विहार करने लगता है।

इसी प्रकार जैन संस्कृति मनुष्य को संयम और आत्मानुशासन के पुनीत मार्ग पर भी आरूढ़ करती है। अचौर्य और सत्य के सिद्धान्तों की प्रेरणा देने वाली यह संस्कृति अपरिग्रह का मार्ग खोलती है। मनुष्य को अपनी न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के योग्य ही साधन-सुविधाएँ प्राप्त करनी चाहिए। इससे अधिक संग्रह करना इस संस्कृति के अधीन अनीति है। जो इस अनीति का अनुसरण करता है वह अन्य अनेक जनों को सुख-सुविधा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर देने का भारी पाप करता है। मनुष्य की यह दुष्प्रवृत्ति समाज के लिए बड़ी घातक सिद्ध होती है। सुख-सुविधा के साधन कुछ ही लोगों के पास प्रचुरता के साथ संकलित हो जाते हैं और शेष सभी दीन-हीन और दुःखी रहते हैं। यह आर्थिक वैषम्य घोर सामाजिक अन्याय है जो समाज में शान्ति और सौमनस्य का विनाश कर असन्तोष, घृणा, कलह, रोष, चिन्ता और प्रतिशोध जैसे विकारों को अभिवर्धित करता है। मनुष्य की इससे बढ़कर दानवता और क्या होगी कि दूसरों को न्यूनतम सुखों से भी वंचित रखकर वह अनन्त सुख-सागर में विहार करता रहे। यह प्रवृत्ति स्वयं ऐसे अनीतिकारी व्यक्ति के लिए भी कम घातक नहीं रहती। उसके मन में अधिक से अधिक प्राप्त करते रहने की असमाप्य तृष्णा का साम्राज्य हो जाता है। जो कुछ उसे प्राप्त हो जाता है—चाहे वह बहुत-कुछ ही क्यों न हो—उसे उससे सन्तोष नहीं होता। लोभ उसके मन को शान्त नहीं रहने देता। घोर अशान्ति की ज्वाला में उसका मानस दग्ध होता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिलाषाओं के ज्वार में उसका चित्त डूबकर दम-घोंटू वातावरण का अनुभव करने लगता है। असन्तुष्ट होकर ऐसा व्यक्ति दौड़-धूप में ऐसा व्यस्त हो जाता है कि सारे सुख उससे छिन जाते हैं। वह सम्पन्न दुखी होकर रह जाता है। फिर लोभ, अधिक से अधिक प्राप्त करने की आकांक्षा उससे कुछ भी करवा सकती है। अहिंसा के मार्ग से वह च्युत हो जाता है, वह घोर अनादर्शों और अनीतियों के विकट वन में आँधियों की भाँति हहराता ही रह जाता है। और इस प्रकार वह अपना और अन्यों का जीना दूभर कर बैठता है। ऐसी स्थिति में जैन संस्कृति अपरिग्रह के सन्देश द्वारा कितना उपकार करती है।

जैन संस्कृति कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर यह व्याख्या भी करती है कि मनुष्य को अपने कर्मों के फल अवश्य मिलते हैं। और यह प्रतिपादन भी इस संस्कृति द्वारा भलीभाँति हो जाता है कि फल सदा कर्मानुसार ही होता है। शुभकर्मों के फल सदा शुभ ही होंगे और अशुभकर्मों के फल कदापि शुभ नहीं होंगे। स्वभावतः मनुष्य शुभफलाकांक्षी ही होता है और यह संस्कृति उसे ऐसी दशा में शुभकर्मों के प्रति रुचिशील बना देती है। विश्व मानवता पर इस संस्कृति का यह उपकार कम नहीं कहा जा सकता है। यह संस्कृति मनुष्य को भाग्यवादी नहीं बनने देती है। यह तो यही सिखाती है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भविष्य का निर्माता है। वह जैसा आज करेगा उसी के अनुरूप उसका कल होगा। इस प्रकार यह संस्कृति मनुष्य को 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम' जैसा बन जाने से बचा लेती है।

मनुष्य को यह उद्यमी बनने की प्रेरणा देती है और इस आत्म-विश्वास से भी उसे सम्पन्न कर देती है कि वह कल क्या बनेगा—यह स्वयं उसी के हाथ की बात है। अपने भविष्य की रूप-रेखा भी वह बना सकता है और उसे क्रियान्वित भी वह स्वयं ही कर सकता है। मनुष्य को इस सम्पदा से सम्पन्न करने का श्रेय जैन संस्कृति को ही मिलता है।

करुणा-क्षमाशीलता का औदार्य जैन संस्कृति की अमूल्य देन है। मनुष्य की मनुष्यता का सार करुणाशीलता में जितना सन्निहित रहता है, उतना कदाचित् किसी अन्य मानवीय गुण में नहीं। प्राणी के कष्ट को देखकर जो द्रवित न हो जाय उस मनुष्य की मनुष्यता की सर्वांगता संदिग्ध ही कही जाएगी। दुखी जनों की सहायता हमारा परम कर्तव्य है और इस कर्तव्य के निर्वाह के लिए बाह्य आदेश या दबाव सफल नहीं हो सकता। इसके लिए तो अन्तःप्रेरणा ही सहायक रह सकती है। हम दूसरों के कष्ट-निवारण में तभी सहायक हो सकते हैं जब उनके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो, करुणा हो। मानव-मन में इस महती करुणा को अंकुरित और पल्लवित करने की अद्‌भुत क्षमता जैन संस्कृति में है। यह ऐसा गुण है, जो अहिंसा जैसे अन्य औदार्यों के लिए भी हमें सहजतः प्रेरित करता है। मनुष्य सब प्राणियों के प्रति बन्धुत्व और स्नेह का नाता रखे, उनके प्रति हितैषिता का भाव हो—मानवता के लिए यह एक अनिवार्य तत्त्व है।

क्षमा एक ऐसा गुण है जिसे अपना लेने पर वह मनुष्य अपने लिए किसी व्यक्ति को शत्रुरूप में स्वीकार कर ही नहीं पाता। हमारे प्रति किये गये अपकारों से तटस्थ होकर हम अपने अपराधियों को क्षमा कर दें, उनके साथ वैमनस्य के भाव को विस्मृत कर दें—इसी में हमारी समग्र मानवता के दर्शन होंगे। हमारे हितैषियों के प्रति हम भी हितैषी रहें—इसमें कोई विशेषता नहीं है। जैन संस्कृति तो हमें जिस अद्‌भुत गौरव से मन्डित करना चाहती है, वह हमारे इस गुण में निवास करता है कि हम समत्व से सम्पन्न होकर शत्रु-मित्र का भेद करना भूल जायें। सभी को हम मित्र मानें और सभी के लिए हमारे मन में हितैषिता का भाव हो। हमारा मन इस प्रकार रोष, प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोध, हिंसादि विकारों से सुरक्षित हो जाता है। दूसरे पक्ष को भी जब कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती, तो उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उसके मन में प्रायश्चित्त का भाव उदित होता है, उसका संशोधन आरम्भ हो जाता है। क्षमाशीलता का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव है और इस प्रभाव का उपयोग करते हुए श्रमण संस्कृति मानव मात्र को मैत्री, बन्धुत्व, साहचर्य और सहानुभूति की उदात्तता से विभूषित करती है।

'जीओ और जीने दो'—मनुष्य के लिए एक सुन्दर आदर्श है, किन्तु जैन सांस्कृतिक दृष्टि इसमें किसी असाधारणता को नहीं देखती। 'जीने दो'—का भाव यही है कि उसके जीने में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत न करो। यह निषेधमूलक निर्देश भी प्रशंसनीय अवश्य है, किन्तु यह अपूर्ण भी है। केवल बाधा न डालने मात्र से ही दूसरों के जीने में हम सहायक नहीं हो सकते। हमारा कर्तव्य तो यह भी है कि दूसरों के जीवन को हम सुगम बना दें, दूसरों को जीने के लिए हम सहायता भी करें। मनुष्य के समुदाय में रहने की इतनी उपादेयता तो होनी ही चाहिये। जनसेवा और मानव-मैत्री के इन पुनीत आदर्शों के कारण जैन संस्कृति के गौरव में अभिवृद्धि हुई है। भगवान महावीर का यह सन्देश भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना अधिक श्रेयस्कर है। मेरी भक्ति करने वालों पर, माला फेरने वालों पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न उन लोगों पर हूँ, जो मेरे आदेश का पालन करते हैं। और मेरा आदेश यह है कि प्राणिमात्र को साता समाधि पहुँचाओ।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धियाँ मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं हैं। मानवाकृति का देह धारण करने वाले प्राणी को सच्ची मनुष्यता के सद्‌गुणों से मनुष्य बना देने की भूमिका में श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में प्रकट हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन शुभ पार्श्व जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का जो दूसरा रूप संभावित है, उसके प्रति भी हमें सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च-भव्य प्रासाद समय द्वारा ही खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुस्वादु बना देता है, वहाँ यही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़-गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर सुरम्य पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों को रूपहीन और अनाकर्षक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुरुतर दायित्व है। हमें प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करनी होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org